तरुण भारती

भारतीय समाज

श्यामाचरण दुबे

अनुवाद
वंदना मिश्र



नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 978-81-237-3516-0
पहला संस्करण : 2001
छठी आवृत्ति : 2009 *(शक 1931)*

Indian Society *(Hindi)*
रु. 40.00
निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया
नेहरू भवन, 5 इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज-II
वसंत कुंज, नई दिल्ली-110 070 द्वारा प्रकाशित

प्राक्कथन

यह पुस्तक उन किशोर तथा युवा पाठकों को संबोधित है जो भारतीय समाज की ऐतिहासिक जड़ों, इसके विचारधारात्मक आधारों तथा सामाजिक संगठन के विषय में कुछ जानना चाहते हैं। अंतिम अध्याय में परिवर्तन की प्रमुख प्रवृत्तियों पर भी चर्चा की गयी है। आंकड़ों और व्याख्याओं के लिए इतिहास, भारतविद्या, मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र जैसे विविध स्रोतों का सहारा लिया गया है। इन विषयों से प्राप्त अंतर्दृष्टियां, मेरे विचार से, भारत के सामाजिक यथार्थ पर प्रकाश डालने के लिए आवश्यक हैं।

भारत का एक सुदीर्घ इतिहास है और उसकी सामाजिक संरचना बहुत जटिल है। इसके बहुरंगी संरूपों का संक्षिप्त सारांश प्रस्तुत करना आसान नहीं। इतनी छोटी पुस्तक में स्थानीय तथा क्षेत्रीय रीति-रिवाजों तथा सामाजिक रूपों के सूक्ष्म विवरणों पर चर्चा कर पाना तो स्पष्टतः असंभव है। फिर भी इसमें कुछ उन विविधताओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है जो भारतीय समाज की विशेषताएं हैं। एकीकरण के पक्षों की भी पड़ताल की गयी है। आशा है कि पुस्तक अपने पाठकों को न भ्रमित करेगी और न उन्हें चकरायेगी।

दो शब्द भाषा के विषय में। दशकों के दौरान समाजशास्त्र ने एक ऐसी दुरूह शब्दावली विकसित की है जो विषय का विशेष ज्ञान न रखने वाले मेधावी पाठकों को भी परेशान करती है। इस पुस्तक में एक सरल-सहज शैली अपनाने का प्रयास किया गया है। आवश्यकतानुसार कुछ तकनीकी शब्दों का प्रयोग करना पड़ा है किंतु ऐसे शब्दों को, जहां वे पहली बार आये हैं, वहां अथवा शब्दावली में स्पष्ट कर दिया गया है।

कुछ हद तक सभी इतिहास तथा समाजशास्त्र पुनर्रचनाएं ही हैं और इनमें सर्वाधिक वस्तुनिष्ठ लेखकों के भी विचारधारात्मक आग्रह प्रतिबिंबित होते हैं। संभव है इस पुस्तक में भी आत्मनिष्ठ झुकाव आ गये हों किंतु किसी विचारधारा

3
वर्ण और जाति

भारतीय समाज में व्यापक विभाजन तथा उप-विभाजन जटिल तथा भ्रम उत्पन्न करने वाले हैं। उनके सरलीकरण का प्रयास एक बिंदु के आगे जाने पर सामाजिक यथार्थ को विकृत कर सकता है। धर्म ग्रंथों और सामाजिक संहिताओं ने सामाजिक व्यवस्था की रूपरेखा प्रदान की है लेकिन अधिकतर वे यही बताती हैं कि *इसे क्या होना चाहिए;* यह नहीं बतातीं कि *यह क्या है।* लेकिन विद्यमान वास्तविकता अलग है। प्रतिमानों को धत्ता बताने के तथा संहिताओं का अर्थ तोड़ने-मरोड़ने के अनेक तरीके हैं। भारत पर लिखने वाले अनेक लेखकों ने स्थिति का अत्यंत सरलीकरण कर दिया है। उदाहरण के लिए 'चार जातियों वाली व्यवस्था' की बात बहुत भ्रामक है क्योंकि हमने देखा है कि जातियां असंख्य हैं जिनमें से कुछ का वर्गीकरण तथा स्थिति बहुत अस्पष्ट ढंग से परिभाषित करके छोड़ दी गयी हैं। मानवशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों द्वारा विशेष क्षेत्रों में किये गये विशेष अध्ययन व्यवस्था के काम करने के ढंग का विश्वसनीय विवरण देते हैं। लेकिन इन्हें राष्ट्रीय फलक पर लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि यह व्यवस्था देश के विभिन्न हिस्सों में अलग-अलग ढंग से संचालित है। समूह और समुदाय अपनी पहचान को लगातार पुनर्परिभाषित कर रहे हैं और अपने अतीत की पुनर्रचना कर रहे हैं, अतः उनकी प्रस्थिति बदलती रहती है। व्यवस्था में अपनी स्थिति के विषय में स्वयं उनके विचार प्रायः बदल जाते हैं, अतः उनकी परिवर्तित पहचान को सामान्य सामाजिक स्वीकृति मिलने की प्रक्रिया और भी धीमी है।

भारतीयों की पहचान कई प्रकार से होती है। संदर्भ से ही यह निर्धारित होता है कि वह अपनी पहचान किस रूप में कर सकता है। कुछ संदर्भों में धर्म, निवास स्थान, या परिवार सूचक नाम पर्याप्त हो सकता है। लेकिन अन्य स्थितियों

में उसे अपनी जाति, गोत्र और कुल का विवरण देना पड़ सकता है। जाति को अंग्रेजी में सामान्यतः कास्ट (caste) कहते हैं लेकिन कास्ट का इस्तेमाल अनेक और बहुत अलग-अलग अर्थों में किया जाता है। यह एक पूरे वर्ण अथवा एक समान नाम वाले जाति समुच्चय अपने समूह के भीतर विवाह करने वाले (अंतर्विवाही) समूह का द्योतक हो सकती है जिसकी परिभाषित जन्मना प्रस्थिति है अथवा ऐसे समूह का द्योतक भी हो सकती है जो वर्ण का उप-विभाग अथवा उससे छिटक कर अलग हुआ समूह हो। इस पुस्तक में जाति शब्द का प्रयोग इन तीनों में से दूसरे अर्थ में किया जायेगा। दूसरी ओर 'गोत्र' जाति का अपने समूह से बाहर विवाह करने वाला उप-विभाग है। व्यक्ति अपनी जाति में किंतु अपने 'गोत्र' से बाहर विवाह करता है। गोत्र सुदूर अतीत के समान पूर्वज (सर्वपूर्वज) की संतान होना इंगित करता है। पूर्वज प्रायः कोई मिथकीय चरित्र अथवा ऋषि अथवा उनका शिष्य होता है। अनेक जातियां–विशेषकर वे जो कर्मकांडीय स्तरीकरण के निचले स्तरों पर हैं–जनजातीय गणचिह्नों को मानती हैं और अतीत में किसी पशु अथवा जीवनहीन वस्तु से अपना दृढ़ साहचर्य तलाशती हैं। कुल (अथवा वंश) एक वंशपरंपरा का प्रतिनिधित्व करती है जो पांच या छह पीढ़ियों तक पीछे जाती हैं। इसके बाद यह परंपरा धुंधला जाती है। कुछ जातियों और जनजातियों के अपने पेशेवर चारण और गवैये होते हैं। वे प्रायः काफी लंबी वंशावली–जो उस समूह के मिथकीय पूर्वज तक जाती है–का विवरण देते हैं। निस्संदेह, इस वंशावली का अधिकांश कपोल-कल्पित होता है। इसमें वर्णित पूर्वजों के महान कार्यों, साहस और वीरता के विवरण भी गढ़े हुए होते हैं। हम पहले वर्ण और फिर जाति पर अपना ध्यान केंद्रित करेंगे।

वर्ण

हिंदू सामाजिक व्यवस्था में वर्ण केवल संदर्भ के काम आने वाला वर्ग है। यह सामाजिक संरचना में सक्रिय इकाई नहीं है। यह सिर्फ विभिन्न जातियों की जन्मना प्राप्त प्रस्थिति के बारे में मोटी-मोटी जानकारी देता है। यह वर्गीकरण का काम भी करता है। वर्ण के भीतर समान जन्मना आनुष्ठानिक प्रस्थिति वाली अनेक जातियां एक साथ समूहबद्ध होती हैं और उनका स्तर निर्धारित होता है। ऊपरी तीन स्तरों–ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य–को द्विज (जिनका जन्म दो बार हो) माना जाता है क्योंकि जीवविज्ञान की दृष्टि से भौतिक जन्म लेने के बाद उनका दूसरा जन्म तब होता है जब उनका उपनयन संस्कार होता है। चौथे स्तर–शूद्र–

के अंतर्गत दस्तकारों और व्यवसाय विशेष में दक्ष जातियां आती हैं जो स्वच्छ अर्थात साफ-सुथरे व्यवसायों में रत हैं। वर्ण यहां समाप्त हो जाते हैं लेकिन एक पांचवां स्तर भी है जिसमें वे सारे लोग आ जाते हैं जिनके लिए माना जाता है कि वे अपवित्र माने जाने वाले अस्वच्छ पेशों में लगे हैं। वे 'अन्त्यज' अर्थात वर्ण व्यवस्था से बाहर हैं। इस स्तर की जातियों के समूह को अछूत/अस्पृश्य कहा जाता था। कानून के जरिये अस्पृश्यता उन्मूलन हो गया है लेकिन व्यवहार में प्रच्छन्न और प्रकट दोनों रूपों में यह प्रथा देश के लगभग सभी भागों में आज भी जारी है। अनुसूचित जातियां–'अन्त्यज', जिन्हें गांधीजी ने हरिजन कहा और जो अब स्वयं को दलित कहती हैं–भारत की कुल जनसंख्या का लगभग 16 प्रतिशत हैं। अनुसूचित जनजातियां–आदिवासी, आदिमजाति अथवा गिरिजन जो जनसंख्या का 7 प्रतिशत हैं–भी इसी श्रेणी में हैं हालांकि उनमें से अधिकतर अस्पृश्यता के कलंक से बची रही हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर पांच स्तर हैं जिनमें जातियों की बड़ी संख्या वर्गीकृत तथा समूहीकृत है।

यह व्यवस्था सीधी-सादी और आकर्षक तो है लेकिन बहुत आदर्शीकृत तथा अतिसरलीकृत भी है। यह गुणवत्ता और कार्य तथा 'जैविक सहलग्नता' के आधार पर समाज के मोटे तौर पर किए गये विभाजनों का मॉडल प्रदर्शित करती है। इसमें सामाजिक व्यवस्था का वह यथार्थ प्रतिबिंबित नहीं होता जो कहीं अधिक जटिल है। जैसाकि पहले बताया जा चुका है, पूर्ण अछूत जातियां चातुर्वर्ण व्यवस्था से बाहर हैं जबकि वे हिंदू सामाजिक व्यवस्था का ही एक हिस्सा हैं। इस व्यवस्था में अन्य अस्पष्टताएं भी हैं। उत्तरी और पूर्वी भारत के कायस्थों को किस वर्ण में रखा जायेगा ? केरल के नायरों को कौन सा दर्जा दिया जायेगा–क्षत्रिय अथवा शूद्र ? वस्तुतः इस व्यवस्था में कोई एकरूप अखिल भारतीय सोपानबद्धता नहीं है; विशिष्ट प्रस्थिति क्रम में कुछ जातियों का एक क्षेत्र में एक स्थान है तो दूसरे क्षेत्रों में दूसरा; यहां तक कि वर्णों का वितरण भी पूरे हिंदू समाज में एक जैसा नहीं है। दक्षिण में वहां के स्थानीय और अधिकृत क्षत्रिय और वैश्य लगभग नहीं हैं। यथार्थ में सोपानबद्ध वर्णक्रम उतने स्पष्ट नहीं हैं जैसाकि वे मॉडल में प्रतीत होते हैं। कुछ जातियों की स्थिति अस्पष्ट है और उन पर राज दरबारों में विद्वत मंडलियों में तथा आधुनिक समय में न्यायालयों में विवाद हुए हैं। ऐसे विवादों के परिणामस्वरूप प्रायः संघर्ष भी हुए हैं और इनसे प्राप्त उत्तर परस्परविरोधी रहे हैं। वर्ण प्रस्थिति की अपरिवर्तनीयता को चुनौती दी गयी है। पवित्र ग्रंथों में जन्मना प्रस्थिति के उच्चीकरण के कुछ उदाहरण मिलते हैं। ऐसे उदाहरण भी

हैं जहां पूरी जाति की प्रस्थिति निम्नतर कर दी गयी क्योंकि संभवतः उसने आचरण के अपेक्षित मानदंडों का पालन नहीं किया। भक्ति संप्रदाय के संत कवियों ने इस संरूप(पैटर्न) की अपरिवर्तनशीलता पर प्रश्नचिह्न लगाये हैं तथा इस व्यवस्था की कठोरता और असमता के विरुद्ध समय-समय पर शक्तिशाली आंदोलन हुए हैं।

सामाजिक व्यवस्था के कार्य संचालन में 'वर्ण' का उपयोग सीमित है। वे जन्मना प्रस्थिति, सामाजिक जीवन के कुछ क्षेत्रों में विशेषीकृत प्रकार्यों, तथा आचार-व्यवहार के मानदंडों की अपेक्षाओं के स्थूल और तैयार संकेतक ही प्रदान करते हैं। हाल के दशकों में वोट जुटाने के लिए इस वर्ण निष्ठा और हितों का इस्तेमाल करने के प्रयास किए गये हैं लेकिन वास्तव में सक्रिय इकाई जाति, परिवार, वंश और नातेदारी का संजाल ही है।

जाति की विलक्षणता पर विस्तृत चर्चा करने से पूर्व हम 'जातियों' (कास्ट्स) की उत्पत्ति के सिद्धांतों पर संक्षिप्त दृष्टि डाल लें जो वास्तव में वर्ण से सीधे संबंधित हैं। ये सिद्धांत वस्तुतः जातियों के नहीं वर्णों की उत्पत्ति की व्याख्या करते हैं।

दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत सुप्रसिद्ध है और इसका उदाहरण अक्सर दिया जाता है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में इसकी शुरुआत देखी जा सकती है। मान्यता है कि समाज के ये चार वर्ग 'पुरुष'–सृष्टा, प्रथम अस्तित्व–के आत्मबलिदान से उत्पन्न हुए। कहा जाता है कि पुरुष ने स्वयं को इसलिए नष्ट कर दिया ताकि एक उचित सामाजिक व्यवस्था जन्म ले सके। बताया जाता है कि ब्राह्मण उसके सिर अथवा मुख से, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य जंघाओं से तथा शूद्र चरणों से उत्पन्न हुए। यह अधिक से अधिक चारों वर्णों के पद और कार्यों का प्रतीकात्मक विवरण है। सांस्कृतिक देह-छवि में सिर, भुजाएं, जंघाएं तथा पैर अवरोही क्रम में हैं। पारंपरिक व्यवसाय भी इसी क्रम में हैं। ज्ञान की प्राप्ति और उसका प्रचार-प्रसार तथा यज्ञ कराने–ब्राह्मणों के कार्य–को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी। पदक्रम में इसके बाद रक्षा और युद्ध, प्रशासन तथा शासन के कार्य थे जो क्षत्रियों को सौंपे गये थे। पदक्रम में तीसरा स्थान व्यापार, वाणिज्य और कृषि का था जो वैश्य का काम है। अंतिम है शिल्प तथा श्रम द्वारा दूसरों की सेवा जो शूद्रों का काम था। यह काम सबसे निम्न कोटि का था।

वर्ण का त्रिगुण सिद्धांत कुछ कम जाना जाता है। प्राचीन भारत के दार्शनिक चिंतन में मनुष्य, सजीव और निर्जीव के तीन गुण माने गये हैं : सत्व, रजस तथा तमस। 'सत्व' में उदात्त विचार तथा कार्य, भलाई और गुण, सत्य तथा

बुद्धि-विवेक समाहित हैं। दूसरी ओर 'रजस' का लक्षण है, ऊंचा रहन-सहन और भोग-विलास, तथा कुछ आसक्ति, गर्व तथा वीरता। सबसे नीचे है तमस जिसके लक्षण हैं रुक्षता और मंदता, सुरुचिहीन अतिभोग, बिना अधिक कल्पनाशीलता के भारी काम करने की क्षमता। सात्विक गुणों वाले लोगों को ब्राह्मण वर्ग में, राजसी गुणों वाले लोगों को क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ग में तथा तामसिक गुणों वाले लोगों को शूद्र वर्ग में रखा गया। चार वर्णों में ये गुण दिखायी भले पड़ें लेकिन यह कल्पना कर पाना कठिन है कि कैसे एक पूरी आबादी को एक ऐसे वर्गीकरण के भारी भरकम संचालन के अधीन रख दिया गया होगा।

तीसरे सिद्धांत में नृजातीय (एथनिक) अधिमिश्रण, सांस्कृतिक संपर्क तथा व्यावसायिक विशेषज्ञता पर ध्यान दिया गया है। इन तीनों घटकों में से अकेला कोई एक वर्णों की उत्पत्ति को स्पष्ट नहीं कर सकता। हिंदू समाज के विकास के प्रारंभिक चरण—वैदिक काल—में प्रजाति तथा वर्ण (रंग) महत्वपूर्ण तत्व थे। किंतु अपने पूर्ण विकसित रूप में यह केवल एक काल्पनिक प्रपंच था न कि जीववैज्ञानिक यथार्थ। आर्यीकरण सांस्कृतिक संपर्क का परिणाम था लेकिन यह कोई इकतरफा प्रक्रिया नहीं थी जिसमें केवल दाता-ग्राहक संबंध हों। जैसाकि पहले बताया जा चुका है, व्रात्य आर्य पूर्व परंपराएं अक्षुण रहीं और इस प्रक्रिया में उन्होंने आर्य सामाजिक संगठन, कर्मकांडों, विश्वासों, विश्व दृष्टि तथा उसके लोकाचारों को परिष्कृत किया। नयी उभरती सामाजिक व्यवस्था में समूह के समूह समाहित हो गये। उन्होंने इस प्रक्रिया में कुछ नयी विशेषताएं अपनायीं, कुछ पुरानी विशेषताओं को बरकरार रखा तथा एक अधिक व्यापक समाज पर अपनी छाप छोड़ी। व्यावसायिक रूप से विशेषता प्राप्त समूह पहले से ही मौजूद थे। उन्हें उपयुक्त सामाजिक पदक्रम तथा कर्मकांडीय प्रस्थिति के साथ नये समाज में शामिल कर लिया गया।

जाति

जाति शब्द भ्रम उत्पन्न करने वाला है। विभिन्न संदर्भों में इसे भिन्न-भिन्न अर्थों में और भिन्न सामाजिक श्रेणियों के लिए इस्तेमाल किया जाता है। बेहतर होगा कि जाति शब्द का इस्तेमाल उस अंतर्विवाही समुदाय के लिए किया जाय जिसकी आनुष्ठानिक प्रस्थिति कमोबेश परिभाषित है तथा जिसके साथ कोई व्यवसाय पारंपरिक तौर पर जुड़ा हुआ है। यहां दो सावधानियां जरूरी हैं। प्रथम, तीन उच्चतर वर्णों का उल्लेख उनके मूल नामों से किया जा सकता है यद्यपि वास्तविक जातियां

उनके उप-विभाग हैं। दूसरे, कुछ जाति समूहों का नाम एक ही है और वास्तविक जाति की पहचान इस सांझे नाम के साथ कोई उपसर्ग या प्रत्यय जोड़कर की जाती है। उत्तर भारत के ब्राह्मण अनेक अंतर्विवाही जातियों में बंटे हैं, जैसे कान्यकुब्ज, सरयूपारीण, गौड़, आदि। महाराष्ट्र में उनका विभाजन देशस्थ, कोंकणस्थ, कहदि तथा सारस्वत में है। तमिलनाडु में उनका मुख्य विभाजन आयंगर और अय्यर के बीच है। इन जातियों के भी उप-समूह हो सकते हैं जिनकी कुछ अपनी विशेषताएं हों। ऐसे समूह अनेक प्रकार के हो सकते हैं। उदाहरण के लिए कान्यकुब्जों को एक बीस बिंदुओं वाले पैमाने पर उनकी जन्मना प्रस्थिति के अनुसार बिसवे प्रदान किए जाते हैं। बिसवों की संख्या जितनी अधिक होगी उस बिसवे वाला समूह पदक्रम में उतने ही ऊंचे स्थान पर होगा। बिसवा का अर्थ है बीस। जिस वर्ग के पास पूरे बीस बिसवा हैं वह उच्चतम स्थान पर होता है। शेष समूह उसके बाद अपने अपने बिसवा की संख्या के अनुरूप स्थान पाते हैं। यह आश्चर्यजनक है कि बिसवा की अपनी संख्या को लेकर बीस और अठारह बिसवा वाले समूह अब भी गर्व करते हैं। सरयूपारीण ब्राह्मणों में विभाजन उनकी आनुष्ठानिक शुचिता के आधार पर होता है। उनमें सर्वोच्च हैं पंक्तिपावन जो कल्पित उच्चतम पवित्रता की पंक्ति निर्मित करते हैं। भोजन के समय ये लोग अलग बैठते हैं। कथित रूप से कम पवित्रता वाले उनके साथ नहीं बैठ सकते यद्यपि वे भी सरयूपारीण हैं। युवा पीढ़ी को अपने ऊपर थोपे गये आनुष्ठानिक प्रथाओं के मानंदडों का पालन करने में कठिनाई होती है लेकिन उनका एक वर्ग अपनी उच्च आनुष्ठानिक प्रस्थिति की प्रिय स्मृतियां अब भी संजोए हुए है।

उच्चतर समूह निम्नतर समूहों के साथ अनुलोम विवाह कर सकते हैं; वे निम्नतर समूहों को अपनी पुत्रियां नहीं देंगे किंतु समान श्रेणी के परिवारों में वधू न मिल पाने की स्थिति में वे निचले समूहों की कन्याएं स्वीकार कर लेंगे। जो द्विज नहीं हैं ऐसे भी कुछ जाति समूहों का एक सामान्य नाम होता है हालांकि इस समूह में अनेक अलग-अलग, अंतर्विवाही जातियां शामिल होती हैं। बाहरी लोग उन्हें समान प्रस्थिति वाली एक इकाई मान लेते हैं लेकिन आंतरिक रूप में अंतर्विवाह की सीमाएं स्पष्टतः परिभाषित होती हैं तथा जाति समूह के घटकों के बीच सूक्ष्म स्थितिभेद बने रहते हैं। दक्षिण में नीलगिरि पहाड़ियों के बादगा का यह वंशनाम है लेकिन वे अनेक जातियों—अंतर्विवाही समूहों—में विभाजित हैं। प्रत्येक का अपना नाम है और उस जाति समूह के भीतर उनकी अपनी अलग पहचान है। यही स्थिति महाराष्ट्र के कुनबियों और गुजरात के पाटीदार तथा बड़िया

की भी है। मध्य प्रदेश के छत्तीसगढ़ क्षेत्र में गड़रिया और कहार समूहों को रावत कहा जाता है लेकिन उनके अंतर्गत अनेक अंतर्विवाही जातियां हैं जैसे कनोजिया, झेरिया, कोसारिया, ओरिया तथा संभवतः अन्य। नाइयों, धोबियों, सुनारों, लोहारों, कुम्हारों तथा अन्य अनेक जाति समूहों में इसी तरह अंतर्विवाही जातियों के समूह मौजूद हैं।

यह सरलीकृत विवरण भी भ्रम उत्पन्न करने वाला प्रतीत होता है लेकिन इसे ऐसा होना ही है क्योंकि सामाजिक यथार्थ की जटिलता का कोई अंत नहीं है। विविधतापूर्ण समूहों और व्यवस्थाओं को विभिन्न क्षेत्रीय संदर्भों में समायोजित करना इस बात को असंभव बना देता है कि कोई ऐसा चुस्त-दुरुस्त, सुस्पष्ट संरचनात्मक नमूना (माडल) बने जिसमें इकाइयां और अंग भलीभांति समायोजित हों ताकि एक निरंतरतापूर्ण और तार्किक व्यवस्था प्राप्त हो सके। इस प्रकार, हमें इस व्यवस्था की परिकल्पना तीन स्तरों पर करनी होगी : शिखर पर चार मान्यताप्राप्त (और एक मान्यताविहीन) वर्ण हैं जो आनुवांशिक हैं और जिनकी आनुष्ठानिक प्रस्थिति कमोबेश समान है। मध्य में सामान्य नाम वाले जाति समूह है जो अन्य अंतर्विवाही जातियों में उपविभाजित हैं। एकदम नीचे ऐसी अंतर्विवाही जातियां है जो शिखर और मध्यवर्ती स्तरों के विपरीत न केवल वर्गीकृत हैं तथा आनुष्ठानिक प्रस्थिति की सूचक हैं बल्कि वे सामाजिक संरचना की प्रभावी एवं कार्यकर्ता इकाइयां भी हैं।

अब हम जाति की कुछ मुख्य विशेषताओं की विवेचना कर सकते हैं :

1. जातियां अंतर्विवाही इकाइयां हैं।
2. वे सोपानबद्धता के अनुसार क्रमबद्ध हैं।
3. उनके व्यवसाय निरपवाद रूप से जातिगत होते हैं।
4. विभिन्न इकाइयों के बीच अंतर्क्रिया धार्मिक शुचिता अथवा अशुचिता के आधार पर निर्धारित होती है।
5. एक जाति के सदस्य सामान्यतः एक समान संस्कृति के साझीदार होते हैं—एक समूह के लोगों की जीवनशैली जिसमें आचार-विचार के परंपरागत संरूप होते हैं। इन संरूपों में विश्वास, मूल्य, आचरण के नियम, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक संगठन सम्मिलित हैं। ये संरूप एक पीढ़ी से अगली पीढ़ी को जैविक आनुवांशिकता से नहीं मिल जाते बल्कि सीखे जाते हैं।
6. भारत के कई भागों में सामाजिक नियंत्रण तथा संघर्ष समाधान के लिए जातियों के अंतःग्राम तथा अंतरग्राम तंत्र हैं।

इन विशेषताओं को व्यापक रूप से सामान्य स्वीकृति प्राप्त है। लेकिन इनमें से प्रत्येक के कुछ अपवाद भी हैं और ये आपवाद भी स्वीकृत हैं। जाति अंतर्विवाही समूह हैं, किंतु कुछ निम्नतर जातियां उनमें विवाह करने वाले बाहरी स्त्री या पुरुष को अपने में समाहित कर लेती हैं। ऐसे विवाहों से उत्पन्न बच्चों को जाति पूरी तरह स्वीकार करती है। कुछ उच्चतर जातियां भी अनुलोम विवाहों की अनुमति देती हैं। अनुलोम विवाह में पुरुष तनिक नीची जातियों की अनुमत परिधि के भीतर की लड़की से विवाह कर सकता है। उनकी संतान निष्कलंक होती है और उसे जाति की संपूर्ण सदस्यता दी जाती है। जाति की एक महत्वपूर्ण विशेषता है सोपानबद्धता किंतु प्रस्थिति और पदक्रम (रैंक) के सूचक सुस्पष्ट एवं सुपरिभाषित नहीं हैं। तीनों द्विज स्तरों की प्रत्येक जाति अपने लिए उच्चतर प्रस्थिति का दावा करती है और अपने ही स्तर की अन्य जातियों द्वारा किये गये ऐसे ही दावों पर विवाद खड़ा करती है। चौथे स्तर अर्थात शूद्रों में अधिक भ्रम की स्थिति है। अनेक जातियां अपने मिथकीय अतीत की पुनर्रचना में लगी हैं और अपनी जन्मना प्राप्त प्रस्थिति से उच्चतर आनुष्ठानिक प्रस्थिति का दावा करती हैं। उनके बीच यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार पाने की प्रतिस्पर्धा है। किसी पुरस्कार के बदले किसी धार्मिक संस्था अथवा अधिकरण द्वारा उन्हें यह अधिकार प्रदान कर दिया जाता है। जातियों के अस्पृश्य स्तर के भीतर भी अस्पृश्यता की प्रथा है। आंध्रप्रदेश में माला स्वयं को मदीगा से श्रेष्ठ मानते हैं। महाराष्ट्र के महार स्वयं को धेड़, मांग तथा अन्य दलित समूहों से श्रेष्ठ मानते हैं। उत्तरप्रदेश और बिहार में चमार अनुसचित जातियों की ऊंची जाति है।

सोपानबद्धता की विशेषताएं तथा व्यवसाय परस्पर जुड़े हुए हैं। विभिन्न वर्ण स्तरों तथा उसी वर्ण स्तर अथवा उसके बाहर की अधिकतर जातियों के बीच भी मान्यताप्राप्त आनुष्ठानिक तथा सामाजिक दूरी है। आनुष्ठानिक पवित्रता का एक आधारभूत अंश जन्मना होता है : यह व्यक्ति को अपने जन्म के संयोग से प्राप्त होता है। एक सामान्य नियम के रूप में कहा जा सकता है कि एक 'स्वच्छ' तथा 'उदात्त' व्यवसाय जाति को उच्चतर आनुष्ठानिक और सामाजिक स्थिति प्रदान करता है तथा 'अस्वच्छ' व 'अपवित्रकारी'(पाल्यूटिंग)मलिन व्यवसाय उसे एक निम्नतर प्रस्थिति में पहुंचा देते हैं। ज्ञानार्जन, ज्ञान देना, तथा पुरोहिती कार्य 'पवित्र' तथा उदात्त हैं, इस कारण ब्राह्मण को सर्वोच्च स्थान मिला है। चमड़े का काम अथवा सफाई का काम (मनुष्य के अपशिष्ट सहित) 'अस्वच्छ' तथा 'अपवित्रकारी' है; इस कारण ये काम करने वाली जातियों की प्रस्थिति निम्नतम

है। स्वच्छ-अस्वच्छ, पवित्र-अपवित्र की धारणाएं जातियों के अपने भीतर तथा अन्य जातियों के साथ व्यवहार में तथा परस्पर क्रिया में भी प्रवेश कर जाती हैं। वे हिंदू मानस का अंग बन गयी हैं। किंतु अब चीजें बदल रही हैं। समकालीन यथार्थ परंपरा से धीरे-धीरे दूर होता जा रहा है।

इस संदर्भ में एक और सामान्य प्रस्थापना की जा सकती है : जाति जितनी ऊंची होगी उसमें धार्मिक 'शुचिता' बनाये रखने तथा 'अशुचिता' से बचने से संबंधित नियम उतने ही जटिल तथा विस्तृत होंगे। जहां तक अंतरजातीय 'अशुचिता' का प्रश्न है, भोजन तथा व्यक्तिगत संपर्क के माध्यम से होने वाली 'अशुचिता' पर ध्यान देना आवश्यक है। भोजन के संदर्भ में पूछे जाने वाले प्रश्न इस प्रकार हैं : कैसा भोजन ? किसने पकाया ? आप किस जाति के साथ यह भोजन ग्रहण करते हैं ? 'सात्विक' भोजन—फल, दूध, कंद-मूल, तथा सामान्य शाकाहारी भोजन—शुचिता के पैमाने में ऊंचे स्थान पर हैं। अत्यंत नीची जाति के व्यक्ति द्वारा लाया फल ब्राह्मण भी खा सकता है बशर्ते उसे किसी अपेक्षाकृत स्वच्छ जाति के व्यक्ति द्वारा लाये जल से धोया तथा एक भलीभांति धुले कपड़े से पोंछा गया हो। दूध और दही कुछ समस्या खड़ी करते हैं क्योंकि ये द्रव हैं, इनमें पानी मिलाया जा सकता है और पानी आसानी से अशुद्ध हो जाता है। यही कारण है कि अधिकांश गांवों में उच्च जातियों और अनुसूचित जातियों के कुएं अलग हैं। यदि एक ही कुआं है तो उसका इस्तेमाल एकांतिक रूप से 'ऊंची' जातियां ही करेंगी, अनुसूचित जातियों को प्रायः वहां तक पहुंचने नहीं दिया जाता। भारत के बड़े क्षेत्र में पारंपरिक जलवाहक (कहार) चौथे वर्ण स्तर के हैं और उनके द्वारा लाया पानी सामान्यतः सभी स्वीकार करते हैं। केवल वे ही यह पानी स्वीकार नहीं करते जो धार्मिक शुचिता के उच्चतम स्तर का आचरण करते हैं। उनके लिए समान रूप से 'पवित्र' पदक्रम के व्यक्ति द्वारा ही पानी भरा जाना चाहिए और वह भी आनुष्ठानिक दृष्टि से 'पवित्र' व्यक्तिगत दशा में। राजसी तथा तामसी भोजन के बीच अंतर करना कठिन है। उनकी परिभाषा में क्षेत्रीय अंतर बहुत अधिक तथा जटिल हैं। हिरन का मांस राजसी माना जाता था। इसी तरह अंगूर तथा अन्य ऐसे फलों से, जिन्हें 'अपवित्र' नहीं माना जाता, निर्मित मदिरा भी राजसी मानी जाती थी। तीखी और तेज गंध वाली सब्जियां—प्याज और लहसुन—तामसी थीं। इसके अतिरिक्त भैंस तथा सुअर का मांस भी तामसी था। जंगली सुअर तथा मुर्गे पालतू सुअरों और मुर्गों के मुकाबले अधिक पवित्र थे। ब्राह्मण और वैश्य जातियों से 'सात्विक' भोजन तक सीमित रहना अपेक्षित

था। लेकिन इसके अपवाद थे। कश्मीरी पंडित, महाराष्ट्र के पश्चिमी तट के सारस्वत, बंगाल और उड़ीसा के ब्राह्मण मछली और मांस खाते हैं। क्षत्रियों को राजसी भोजन करने का निर्देश था तथा शूद्रों को तामसी भोजन। उनसे भी नीचे की जातियां कुछ निषिद्ध खाद्य भी खा सकती थीं। स्वच्छ जातियों में 'कच्चे' और 'पक्के' भोजन में भी भेद किया जाता है। 'कच्चे' भोजन को पकाने में पानी का इस्तेमाल होता है जबकि 'पक्का' भोजन घी अथवा शुद्धीकृत मक्खन में पकाया जाता है। जहां द्रव जरूरी हो, जैसे आटा गूंथना अथवा लोई बनाना, वहां पानी के स्थान पर दूध का इस्तेमाल किया जाता है। खीर अथवा पायसम आनुष्ठानिक दृष्टि से तब पवित्र होते हैं यदि चावल को पहले घी में हलका भून लिया जाये और फिर दूध में पकाया जाये। कच्चा भोजन नियमतः अपनी जाति की तुलना में उच्चतर जातियों से ही ग्रहण किया जा सकता है। कुछ मामलों में कमोबेश समान कर्मकांडीय पदक्रम वाली जातियों द्वारा परोसा गया कच्चा भोजन भी ग्रहण किया जा सकता है। पक्के भोजन में काफी नीचे तक जाया जा सकता है। लेकिन 'स्वच्छ' जातियां 'अस्वच्छ' शूद्रों जैसे नाई, धोबी, टोकरियां बनाने वाले आदि से पक्का भोजन भी नहीं ग्रहण करेंगी। चार वर्णों की कोई भी जाति उन समुदायों से 'पक्का भोजन' भी ग्रहण नहीं करेगी जो पारंपरिक रूप से अछूतों में वर्गीकृत हैं।

सहभोज के नियम भी भ्रमोत्पादक और जटिल हैं। एक ही जाति में ऐसे श्रेणीकरण हो सकते हैं जिनमें अंतर्भोज निषिद्ध है। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के विषय में कहा जाता है, 'तीन कनौजिया तेरह चूल्हे'—अर्थात तीन कनौजियों का भोजन तेरह अलग चूल्हों पर पकता है। इस कहावत में स्पष्ट अतिशयोक्ति तो है किंतु यह पूरे परिदृश्य की जटिलता का उदाहरण भी है। यहां मुख्य प्रश्न यह है : भोजन के लिए एक साथ बैठने पर कौन किसे अपवित्र करता है ? 'पक्के' भोजन के संदर्भ में निषिद्ध श्रेणियां कम हैं, और कच्चे भोजन के संदर्भ में अधिक। जातियों के बीच सामाजिक दूरी देखने का एक अच्छा तरीका है, वैवाहिक दावतों, मृत्यु के बाद दसवें और तेरहवें दिन होने वाले भोजों अथवा सांस्कृतिक रूप से पाप माना जाने वाला कोई कृत्य करने अथवा कोई गंभीर सामाजिक अपराध करने के बाद दिये जाने वाले शुद्धीकरण भोजों में अग्रताक्रम तथा व्यवस्था, अलगाव और समूहीकरण को देखा जाय। एक दिए गये क्षेत्रीय संदर्भ में ये जाति पदक्रम पर प्रकाश डालते हैं।

स्वच्छ जातियों और हीन जातियों की कई श्रेणियों के बीच भौतिक संपर्क से बचा जाता है। दक्षिण भारत में अस्पृश्यता प्रथा के अतिरेकपूर्ण उदाहरण मिलते

हैं। कुछ निम्नतम जातियों का दर्शन मात्र अपवित्रकारी माना जाता था। फिर वहां ऐसी जातियां भी थीं जिनका छाया संपर्क भी अपवित्रकारी था। यह प्रथा तमिलनाडु और केरल में प्रचलित थी। केरल के तियान (ताड़ी उतारने वाले) को नंबूदिरीपाद ब्राह्मणों से 36 पग तथा पुलयन (खेतिहर) को 96 पग की दूरी रखनी पड़ती थी। अस्पृश्यता के सर्वाधिक प्रचलित--तथा सबसे कम कठोर—रूप के अंतर्गत केवल स्वच्छ जातियों के साथ उनका शारीरिक संपर्क तथा स्वच्छ जातियों के घरों में उनका प्रवेश निषिद्ध था। अछूत जातियों का मंदिरों में प्रवेश वर्जित था तथा वे गांव के साझा कुएं से पानी नहीं ले सकती थीं। उनके घर गांव से बाहर, प्रायः कुछ दूरी पर होते थे। उन्हें स्कूल में अलग बैठना पड़ता था। चाय की दुकानों में भी उनके लिए निशान लगे प्याले अलग थे जिन्हें उन्हें खुद धोकर अलग रखना पड़ता था। कानूनन अस्पृश्यता का उन्मूलन हो गया है और अनुसूचित जातियों को सिद्धांत रूप में समान मान लिया गया है। लेकिन द्वेषपूर्ण भेदभाव अब भी किया जाता है तथा भेदभाव के सूक्ष्म रूप अब भी मौजूद हैं।

एक जाति के सदस्यों के लिए एक साझी संस्कृति का भागीदार बनना आज के मुकाबले अतीत में ज्यादा आसान था। लेकिन तब भी इसके महत्वपूर्ण अपवाद थे। अधिकतर जातियां एक क्षेत्र विशेष में सीमित रहती थीं। वे क्षेत्रीय संस्कृति का हिस्सा होती थीं और साथ ही उनके अपने सुनिश्चित जातिगत सांस्कृतिक लक्षण भी होते थे। राजपूत इसका अपवाद थे। उनमें व्यापक क्षेत्रीय विभेद थे जो काफी स्पष्ट थे। राजपूत सजातीय विवाह का निर्देश भी नहीं देते थे। संस्कृति और भाषा की दृष्टि से विभिन्न क्षेत्रीय समूहों में विभेद थे लेकिन वे परस्पर विवाह की संभावना को नकारते नहीं थे। समृद्धि और ताकत ने एक वर्ग को कुछ ऐसी सांस्कृतिक विशेषताएं प्रदान की थीं जिनमें कम सुविधा प्राप्त वर्गों की कोई हिस्सेदारी न थी।

अधिकतर जातियों में संघर्षों के समाधान के लिए ग्राम और अंतरग्राम स्तर पर अपने तंत्र हैं। हालांकि अब ये तंत्र कमजोर हो रहे हैं लेकिन इन्हें खारिज नहीं किया जा सकता। अध्याय पांच में हम इन पर वापस लौटेंगे।

जाति के कर्मकांडीय आयाम का आधुनिक समय में काफी क्षरण हुआ है, लेकिन जाति को एक अनपेक्षित स्रोत से कुछ ताकत मिल गयी है। जनतांत्रिक चुनावों में गोलबंदी के आधारों की आवश्यकता होती हैं और जाति भाईचारे का जबर्दस्त राजनीतिक प्रभाव देखा गया है। इसका व्यापक इस्तेमाल किया गया है लेकिन अनेक चुनावक्षेत्रों में मुख्य प्रतिद्वंद्वी एक ही जाति के होते हैं। इससे

राजनीति में 'जाति के पत्ते' का प्रभाव कम हो जाता है। एक अन्य प्रवृत्ति भी दिखायी पड़ती है : ग्रामीण परिदृश्य पर अपना नियंत्रण बनाये रखने के लिए धनी और ताकतवर जातियां एक साथ मिल रही हैं। यह गठजोड़ निम्नतर समूहों को काबू में रखने के लिए आतंक और अपने आर्थिक तथा राजनीतिक प्रभाव का इस्तेमाल करता है। विद्रोह के हलके से हलके, क्षीणतम संकेत को शारीरिक हिंसा (इसमें बलात्कार तथा हत्या शामिल है) द्वारा, खड़ी फसल को नष्ट कर तथा गांव के गांव को आग लगाकर खामोश कर दिया जाता है। गरीबों को प्रभावशाली लोगों के उम्मीदवारों को वोट देने पर मजबूर कर अथवा उन्हें मतदान करने से ही रोककर चुनाव परिणामों को प्रभावित किया जाता है। इस प्रकार सत्ता के साथ जाति का गठजोड़ देश की जनतांत्रिक प्रक्रिया को तबाह कर रहा है।

भारत की जाति व्यवस्था की देश और विदेशों में बहुत आलोचना हुई है। फिर भी, वर्ण और जाति में असाधारण मजबूती तथा लचीलापन रहा है और वे अपने ऊपर हुए हर आघात को झेलकर किसी न किसी रूप में बचे हुए हैं। लेकिन बदलते समय में उन्हें अपने को बदलना पड़ा। उदाहरण के लिए अस्पृश्यता, सहभोज तथा जातिगत व्यवसायों की प्रथा में काफी ढीलापन आया। लेकिन इसके साथ ही, जैसाकि पहले कहा जा चुका है, जातियों ने नयी राजनीतिक भूमिकाएं ग्रहण कर ली हैं। इस प्रकार आजादी के इतने वर्ष बाद भी वर्ण-जातिगत एकता नए सिरे से मजबूत हो रही है।

पूर्ववर्ती अध्यायों में हमने देखा है कि कैसे भारत में बाहर से आये धर्मों—विशेषकर ईसाई और इस्लाम--को वर्ण और जाति के साथ समझौता करना पड़ा और उनकी कुछ विशेषताओं को, जो उनके आधारभूत सिद्धांत का अंग नहीं थीं, अपनाना पड़ा। आश्चर्यजनक बात यह है कि ये विशेषताएं आज भी कायम हैं।

ईसाइयों और मुसलमानों में कोई सुस्पष्ट वर्ण विभाजन नहीं मिलता किंतु उनमें भी उच्च जाति से धर्म परिवर्तन करने वालों और निम्न जाति के धर्मांतरितों के बीच भेद किया जाता है। उच्च जाति से धर्मांतरित लोग अपनी पहचान ब्राह्मण ईसाइयों या नायर ईसाइयों अथवा राजपूत या त्यागी मुसलमानों के रूप में करते हैं। मंडल आयोग (1980) की टिप्पणी है, '...जाति व्यवस्था मस्तिष्क को अत्यधिक अनुकूलित करती है तथा व्यक्ति की सामाजिक चेतना और सांस्कृतिक लोकाचारों पर अमिट चिह्न छोड़ती है।'

जनवरी 1988 में अपनी वार्षिक बैठक में तमिलनाडु के बिशपों ने इस बात पर ध्यान दिया कि धर्मांतरण के बाद भी अनुसूचित जाति के ईसाई परंपरागत

अछूत प्रथा से उत्पन्न सामाजिक, शैक्षिक और आर्थिक अति पिछड़ेपन का शिकार बने हुए हैं। फरवरी 1988 में जारी एक भावपूर्ण पत्र में तमिलनाडु के कैथलिक बिशपों ने स्वीकार किया : 'जातिगत विभेद और उनके परिणामस्वरूप होने वाला अन्याय और हिंसा ईसाई सामाजिक जीवन और व्यवहार में अब भी जारी है। हम इस स्थिति को जानते हैं और गहरी पीड़ा के साथ इसे स्वीकार करते हैं।' भारतीय चर्च अब यह स्वीकार करता है कि 1 करोड़ 90 लाख भारतीय ईसाइयों का लगभग 60 प्रतिशत भाग भेदभावपूर्ण व्यवहार का शिकार है। उसके साथ दूसरे दर्जे के ईसाई जैसा अथवा उससे भी बुरा व्यवहार किया जाता है। दक्षिण में अनुसूचित जातियों से ईसाई बनने वालों को अपनी बस्तियों तथा गिरजाघर दोनों जगह अलग रखा जाता है। उनकी 'चेरी' या बस्ती मुख्य बस्ती से कुछ दूरी पर होती है और दूसरों को उपलब्ध नागरिक सुविधाओं से वंचित रखी जाती है। चर्च में उन्हें दाहिनी ओर अलग कर दिया जाता है। उपासना (सर्विस) के समय उन्हें पवित्र पाठ पढ़ने की अथवा पादरी की सहायता करने की अनुमति नहीं होती। बपतिस्मा, दृढ़ीकरण अथवा विवाह संस्कार के समय उनकी बारी सबसे बाद में आती है। नीची जातियों से ईसाई बनने वालों के विवाह और अंतिम संस्कार के जुलूस मुख्य बस्ती के मार्गों से नहीं गुजर सकते। अनुसूचित जातियों से ईसाई बनने वालों के कब्रिस्तान अलग हैं। उनके मृतकों के लिए गिरजाघर की घंटियां नहीं बजतीं, न ही अंतिम प्रार्थना के लिए पादरी मृतक के घर जाता है। अंतिम संस्कार के लिए शव को गिरजाघर के भीतर नहीं ले जाया जा सकता। स्पष्ट है कि 'उच्च जाति' और 'निम्न जाति' के ईसाइयों के बीच अंतर्विवाह नहीं होते और अंतर्भोज भी नगण्य हैं। उनके बीच झड़पें आम हैं। नीची जाति के ईसाई अपनी स्थिति सुधारने के लिए संघर्ष छेड़ रहे हैं, गिरजाघर अनुकूल प्रतिक्रिया भी कर रहा है लेकिन अब तक कोई सार्थक बदलाव नहीं आया है। ऊंची जाति के ईसाइयों में भी जातिगत मूल याद किए जाते हैं और प्रच्छन्न रूप से ही सही लेकिन सामाजिक संबंधों में उनका रंग दिखायी देता है।

मुसलमानों में स्थिति कुछ भिन्न है। नमाज अदा करने के लिए मस्जिदों में प्रवेश पर कोई प्रतिबंध नहीं है और अछूत प्रथा स्पष्ट नहीं है। लेकिन सामाजिक स्थिति के सूचक तथा सामाजिक अंतःक्रिया को नियंत्रित करने वाले वर्ण तथा जाति जैसे विभेद मौजूद हैं। अशराफ और अजूलाफ श्रेणियों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। शरीफ जात (उच्च जाति जैसा वर्ग) और अजलाफ जात (आम, नीची जाति जैसा वर्ग) की बात करना आम है। ये विभेद विवाह, अंतर्भोज

तथा समारोहों और अन्य सामाजिक आयोजनों में भागीदारी जैसी अंतर्समूह सामाजिक अंतर्क्रिया का निर्धारण करते हैं। मूल याद किये जाते हैं और हिंदू धर्म से इस्लाम धर्म अंगीकार करने वाले अब भी बड़े पैमाने पर अपने पुराने जातिगत व्यवसायों में ही लगे हैं। मुगलकाल में सैयद, शेख, मुगल और पठानों के विभाजनों की समानता प्रायः हिंदू समाज के वर्ण विभाजनों से दिखायी जाती थी और भारत के कुछ भागों में हिंदू धर्म से इस्लाम ग्रहण करने वाले इन्ही विभाजनों में से किसी एक में शामिल होना आवश्यक मानते थे। इस्लाम के प्रति यह ठीक है या नहीं यह एक अलग प्रश्न है किंतु यह तो एक तथ्य है ही कि ऐसा होता है। सैयद पैगम्बर की बेटी के जरिये उनके परिवार के वंशज हैं। वे अरब मूल के हैं। लेकिन इस्लाम में धर्मांतरित अनेक उच्चतर जातियां इस प्रस्थिति का दावा करती हैं। धर्मांतरित ब्राह्मणों ने दावा किया कि उनकी सैयद प्रस्थिति की पुष्टि सम्राट अकबर ने की थी। शेख भी अरब मूल के हैं यद्यपि वे पैगंबर के वंशज नहीं हैं। धर्मांतरितों की पहली पीढ़ी भी खुद को शेख कहती है। दिल्ली का शासक वंश 'मुगल' शेख के बाद आता था। वे तुर्की मूल के थे लेकिन तुर्की के आटोमन शासकों से स्वयं को अलग दिखाने के लिए उन्होंने 'मुगल' पदनाम ग्रहण कर लिया था। पठान अफगान मूल के थे यद्यपि उनमें से अनेक ने, जिनका अफगानिस्तान से दूर-दूर तक कोई नाता नहीं था, पठान होने का दावा किया। स्तर कूद और सामाजिक सीढ़ी चढ़ने का काम काफी हुआ। यह प्रवृत्ति एक चुटकुले में, जो बहुत सुरुचिपूर्ण नहीं है, अभिव्यक्त हुई है : 'पिछले साल मैं जुलाहा था; इस साल शेख हूं; और अगले साल अगर फसल अच्छी हुई, मैं सैयद बन जाऊंगा।' उच्चतर जातियां—राजपूत, जाट और अहीर—अपनी पहचान बनाये रहीं। जुलाहा, तेली, भाट, कलाल और भिश्ती जैसी अनेक जातियों की तुलना कई दृष्टियों से हिंदू जातियों के साथ की जा सकती है जिनके विशिष्ट व्यवसाय हैं तथा प्रस्थितिक्रम है। जाति के बने रहने से मुसलमान धर्मशास्त्री तथा सामाजिक सुधारक चिंतित हैं किंतु कट्टरपंथ की ताजा लहर भी इसे नष्ट नहीं कर पायी है।

भारतीय मूल के धर्मों—जैन, बौद्ध तथा सिख—में जाति के जारी रहने के साक्ष्य हैं। नव बौद्धों को स्वयं को अपनी पूर्व जाति प्रस्थिति से असंबद्ध करना कठिन लग रहा है। सिख धर्म का समतावादी लोकाचार जाति यहां तक कि अस्पृश्यता की भी उपस्थिति से भोथरा हो रहा है।

वर्ण और जाति की धारणाओं की पकड़ ऐसी है कि उसने हिंदू धर्म से आगे बढ़ अन्य धर्मों पर भी अपनी जकड़ बना ली है। जाति और वर्ण को भारतीय

समाज के लगभग सभी हिस्सों में सक्रिय देखा जा सकता है। समाज सुधारक भी इस रुझान को बदल पाने में असफल रहे हैं हालांकि कुछ समाज सुधारकों ने इसे बदलने के लिए कड़ी मेहनत की थी।

समकालीन भारतीय समाज इस समय एक अजीब स्थिति में है। वह आधुनिकता और परंपरा—दो विरोधी सिरों—की ओर खीचा जा रहा है। परंपरा और आधुनिकता दोनों उसे अपनी अपनी ओर विपरीत दिशाओं में खींच रही हैं। उनकी मुठभेड़ से कुछ अजीबोगरीब नतीजे सामने आये हैं। देश ने एक ओर लोकतंत्र, समानतावाद, धर्मनिरपेक्षता तथा सामाजिक न्याय की विचारधारा स्वीकार की है और उसे प्रोन्नत कर रहा है, दूसरी ओर आदिकालीन निष्ठाएं अब भी कायम हैं, शोषणमूलक संरचनाओं को कभी कोई गंभीर चुनौती नहीं मिली, परंपरा की विकल स्मृति को राजनीतिक लाभ के लिए इस्तेमाल किया जाता है तथा धार्मिक पुनरुत्थानवाद और परवर्ती कट्टरपन से कठोरतापूर्वक नहीं निपटा गया। भावनात्मक तथा बौद्धिक जागरूकता के स्तर पर वर्ण और जाति के ढांचे के भीतर अंतर्निहित असमानता तथा अमानवीयता की निंदा की गयी है लेकिन इसे ढहाने का कोई सार्थक या महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया गया है। देश की लगभग आधी आबादी, जिसमें मुख्यतः अनुसूचित जनजातियां, अनुसूचित जातियां, तथा अन्य पिछड़े समुदाय हैं, संपूर्ण कृषि भूमि में केवल दस प्रतिशत की हिस्सेदार है। निर्धन बंधुआ मजदूर तथा अपमानजनक धंधों में लगे लोगों के पास अपनी दुर्भाग्यपूर्ण दुर्दशा से मुक्ति पाने के रास्ते नहीं हैं। बंधुआ मजदूरी उन्मूलन का अर्थ यही है कि बंधुआ का रूप बदल गया है। भारत में अब भी 41,00,000 खुले पाखाने हैं। एक जाति विशेष वहां से मल निकालती है और बंद डिब्बों अथवा खुले टोकरों में उस मल को अपने सिर पर ढोकर अन्यत्र ले जाती है। वर्ण और जाति के राजनीतिकरण के कारण 'निम्नतर' जातियों पर भांति-भांति के अत्यचार हो रहे हैं। अपनी दशा सुधारने के लिए उन्हें अपनी चुनावी ताकत का इस्तेमाल करने से रोका जा रहा है। कुछ क्षेत्रों में जाति का वर्चस्व कमजोर हुआ है लेकिन फिर दूसरे क्षेत्रों में इसने खुद को और ताकतवर और दुर्भेद्य बना लिया है। भारतीय समाज, अर्थशास्त्र, तथा राजनीति ने निम्नीकृत, कमजोर, तथा असुरक्षितों के हित में केवल जबान हिलाई है लेकिन वे उनकी समस्याओं के निदान का कोई सार्थक, व्यावहारिक हल ढूंढ़ पाने में असफल रहे हैं। इसका स्पष्ट, दृष्टिगोचर परिणाम है, असंतोष तथा प्रतिरोध। दोनों का औचित्य समझा जा सकता है। परंपरा की अपनी उपयोगिता है किंतु, उसके प्रति सम्मान को शोषण, असमानता तथा

अन्याय को जारी रखने का बहाना नहीं बनाया जा सकता। वर्ण और जाति की गतिविधियों में कुछ बदलाव आया है किंतु यह बहुत ही धीमा तथा बहुत ही कम है। कानून ने एक हाथ से जो दिया है—अस्पृश्यता तथा बंधुआ मजदूरी का उन्मूलन, शिक्षा और रोजगार के क्षेत्र में मुआवजे के रूप में आरक्षण, विवाह में जीवनसाथी चुनने की आजादी—उसे सतर्कता में ढीलेपन तथा अप्रभावी अमल की 'कृपा' से दूसरे हाथ से छीन लिया गया है।